शिक्षा, बाज़ार का विकास और सामाजिक संघर्ष

अमन मदान

कोई भी समाज बदलावों से मुक्त नहीं होता है। एक अंतराल के बाद इन बदलावों को साफ तौर पर देखा जा सकता है। बाज़ार की व्यवस्था ने भी समाज में बहुत से बदलाव किए हैं। ये बदलाव सरल और एकरेखीय नहीं हैं। जहां बाज़ार ने कुछ पुराने बंधनों से मुक्त किया है वहीं कुछ समस्याएं भी पैदा की हैं। शिक्षा पर भी बाज़ार के असर देखे जा सकते हैं। यह लेख शिक्षा और समाज में बाज़ार के जरिए होने वाले बदलावों और उनके प्रभावों की चर्चा करता है।

कई तरह की समाजशास्त्रीय प्रक्रियाओं का भारत की शिक्षा पर गहरे किस्म का असर हो रहा है। इस लेख में हम बाज़ारों के विकास और माल एवं सेवाओं के आदान-प्रदान को ख़रीद-फ़रोख्त के ज़रिए करने के बारे में बात करेंगे। ये परिवर्तन आर्थिक ही नहीं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी हैं। हम कई रिश्तों को बदलते हुए देख रहे हैं जो कि पहले गैर-मौद्रिक थे और जिनमें अब पैसों का लेन-देन बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है। इन परिवर्तनों का शिक्षा के रोज़मर्रा के अनुभवों पर भारी असर दिखता है और उसके उद्देश्यों और पाठ्यचर्या पर भी। इस परिवर्तन और उससे उभरते कुछ सवालों पर ध्यान देना ज़रूरी है। शिक्षा के निजीकरण पर कई तरह की चर्चाएं और विवाद उठे हैं। समाजशास्त्री कहते हैं कि यह शिक्षा की व्यवस्था में सिर्फ एक सतही परिवर्तन नहीं है, बल्कि भारतीय समाज में होने वाले एक बहुत बड़े परिवर्तन का हिस्सा है। हम किस दिशा में जाते हैं, उसके कई तरह के परिणाम होंगे।

आदान-प्रदान और मानवीय रिश्ते

मौलिक बात यह है कि हम अपने आदान-प्रदान के द्वारा किस तरह के रिश्ते अभिव्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ समय पहले तक भारत के अधिकांश खेतिहर मज़दूर और कारीगर जब किसानों के लिए काम करते थे, उन्हें एक निश्चित मात्रा में अनाज दिया जाता था। जब वे किसान या ज़मीदार के यहां जाते थे तो उनके साथ परिवार के सदस्यों जैसा व्यवहार किया जाता था, कुछ खाने के लिए भी दिया जाता था, चाहे यह भी इज़हार करते हुए कि वे छोटे हैं और हैसियत में बराबर के नहीं हैं। यह भी आम था कि उनका शोषण किया जाता था और उनको मारा भी जाता था और यौनिक उत्पीड़न भी होता था। लेकिन इस सबके साथ-साथ ये मान्यताएं चलती थीं कि वे वफ़ादार सेवक हैं और मालिक का नैतिक और धार्मिक फ़र्ज यह था कि उनका भी ध्यान रखे। शिक्षा ज्यादातर थोड़े बड़े किसान और व्यापारी को ही मिलती थी और वह काम करने वालों के प्रति इसी तरह के व्यवहार सिखाती थी। इस तरह के संबंधों को एक तरह का उत्पादन संबंध (production relation) कहा जाता है क्योंकि इन संबंधों से एक ख़ास तरह की उत्पादन व्यवस्था बनती थी।

काम व्यक्तिगत संबंधों के रास्ते किया जाता था, अपने परिवार के लिए और अपने मालिक के लिए, जिसके साथ अधीनता का एक पारंपरिक रिश्ता था। यह रिश्ता वही रहता, चाहे उसमें गाली-गलौच और दुर्व्यवहार भी क्यों न हो। इस तरह के उत्पादन संबंध जो कि सांस्कृतिक आशयों पर आधारित थे अब बदलकर वेतन का रूप ले चुके हैं, जो कि रुपयों में दिया जाता है। पैसों का इस्तेमाल तो सदियों से होता आ रहा है, मगर शायद पिछली दो शताब्दियों से वह आदान-प्रदान का मुख्य साधन बन गया है। मानवीय संबंध अभी भी महत्त्व रखते हैं, मगर बहुत सारी बातों में उनकी जगह मज़दूरों को दी जाने वाले दैनिक वेतन ने ले ली है।

लेखक परिचय

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

माल और सेवाओं को बनाने, आदान-प्रदान करने और खपत करने कि विधियों में ज़बरदस्त परिवर्तन आया है। मानव-वैज्ञानिक और समाजशास्त्री इसे समझने के लिए अक्सर कार्ल पोलान्यी की भाषा का इस्तेमाल करते हैं। उनके अनुसार विभिन्न समाजों में माल और सेवाओं, जिनमें से शिक्षा भी एक है, के आदान-प्रदान के तीन मुख्य तरीके हैं - पारस्परिकता (reciprocity), पुनर्वितरण (redistribution) और वस्तुकरण (commodification)। इनके भी कई रूप-रंग हो सकते हैं मगर अभी के लिए इनके बारे में सरल तरीके से बात करेंगे। जब वस्तुओं और सेवाओं को भोग्यवस्तु (commodity) के रूप में देखा जाता है तो उनका मूल्य पैसों में नापा जाता है और उन्हें बाज़ार के ज़रिए बेचा और ख़रीदा जा सकता है। बाज़ार वे जगह होती हैं जहां वस्तुओं को आदान-प्रदान के लिए ही रखा जाता है और जहां उनको बेचने और ख़रीदने वाले भाव-ताव करने के लिए आजकल बाज़ारों में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को नापने के लिए इकट्ठे होते हैं। मुख्यतः पैसों का ही इस्तेमाल किया जाता है, मगर अदल-बदल जैसी व्यवस्थाओं में यह नहीं होता।

बाज़ार में किसी वस्तु या सेवा के मूल्यांकन पर आपूर्ति और मांग का असर पड़ता है। इसीलिए अगर बाज़ार आधारित आदान-प्रदान किया जाता है तो पढ़ाने जैसे काम का मूल्यांकन इससे किया जाता है कि शिक्षकों की आपूर्ति कितनी है और उनकी मांग किस तरह की है। ऐसे में नाप-तोल और आंकड़ों और पैसों द्वारा तय करने पर जोर दिया जाता है कि अलग-अलग तरह के शिक्षण का क्या मूल्य है।

जहां आदान-प्रदान पारस्परिकता पर आधारित होता है वहां चीज़ों का मूल्य पैसों में मुख्य रूप से नहीं देखा जाता। न ही वहां खुले और प्रत्यक्ष रूप से भाव-ताव किया जाता है। जब एक अच्छी बहिन या अच्छा व्यक्ति होने के नाते किसी को भेंट दी जाती है तो जो आदान-प्रदान हो रहा है वह मुख्य रूप से संबंध होता है। अपनी चचेरी बहिन को जब मैं साड़ी देता हूं तो वह कुछ रिश्तों को परिपक्व करने के लिए होता है। हां, कभी-कभी कुछ रिश्तों को चिढ़ाने के लिए भी हो सकता है और यह भी उम्मीद हो सकती है कि उनसे वापस भी कुछ कपड़े मिलेंगे। हालांकि वस्तुओं के तुलनात्मक मूल्यों का भी महत्त्व होता है, वह इस लेन-देन का मूल अर्थ नहीं है। यहां पर लेन-देन का सांस्कृतिक और पारंपरिक महत्त्व है। ज़रूरी नहीं है कि यह सिर्फ़ इशारे ही हों, इनसे हमारी ज़रूरत की काफ़ी चीज़ें भी मिलती होंगी। मगर एक सटीक नाप और सटीक भुगतान इस तरह के आदान-प्रदान से बाहर है। लोग इसको बहुत ही बुरा मानेंगे अगर हम किसी मित्र को कहें कि आप मेरे 10% ज्यादा अच्छे दोस्त बन जाएंगे तो मैं आपको 10% ज्यादा अच्छा उपहार दूंगा।

हमारे जीवन में अलग-अलग तरह के लेन-देन की अलग जगह होती है। शिक्षा को अक्सर एक ऐसी क्रिया माना जाता है जो पारस्परिकता पर आधारित है, रिश्तों पर, बाज़ार के नाप-तोल पर नहीं। भारत के कई हिस्सों में कुछ समय पहले तक ज्यादातर विद्यालयों में ऐसे शिक्षक थे जिन्हें बच्चों को पढ़ाने के लिए किसी रईस द्वारा थोड़े से पैसे मिलते थे। यह मध्यकालीन भारत में आम था। उस राशि को मानदेय (honorarium) के रूप में देखा जाता था, वेतन के रूप में नहीं। बच्चे जो कुछ घर से लाते थे वह शिक्षक को भेंट होती थी, उसके काम की कीमत नहीं। हो सकता है इसी सबसे शिक्षक की रोजी-रोटी चलती हो, मगर वह अलग बात थी। यह माना जाता था कि शिक्षक अपना काम सांस्कृतिक कारणों से करते थे, पैसा बनाने के लिए नहीं। शिक्षक पढ़ाने का काम उससे आने वाले सम्मान और एक सांस्कृतिक धरोहर को ज़िन्दा रखने के आनंद के लिए करते थे, मगर ऐसे भी कई शिक्षक होते होंगे जिनका गुज़ारा इसके बिना नहीं हो सकता था।

पुनर्वितरण भी एक तरीका है लोगों तक वस्तुओं और सेवाओं को पहुंचाने का। यह पैसों के लेन-देन पर आधारित न होकर, राजनैतिक और सांस्कृतिक लेन-देन पर आधारित होता है। उदाहरण उस ज़मींदार का हो सकता है जो अपने किरायदारों से आए अनाज का एक बड़ा हिस्सा अलग करके विद्यालय को दे देता था। यह गुरूजी को शिक्षा के रूप में बहुत सारे परिवारों को मिलता था। पुनर्वितरण से जमींदार को सम्मान और इज़्ज़त मिलती थी और शायद राजनैतिक ताकत भी। उसका एक असर यह भी होता होगा कि शिक्षक ज़मींदार के कार्यों पर सवाल नहीं उठाता होगा।

बाजारीकरण से सामाजिक बंधनों का घुलना (Disembedding of Society)

आज के समय में भी पारस्परिकता, पुनर्वितरण और वस्तुकरण तीनों दिखते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों से बंधकर लेन-देन समाज में लोगों को बांधकर और उनके परिवेश में जोड़कर रखता है। मगर ज्यादातर मानव वैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों के अनुसार, धीरे-धीरे बाज़ार और वस्तुकरण बढ़ते हुए दिख रहे हैं। कार्ल पोलान्यी ने इसे समाज के अंशों के घुलने (disembedding) का नाम दिया था। घुलने से यह आशय है कि पैसों और बाज़ार के उपयोग से लोगों और साधनों को बड़ी आसानी से यहां से वहां किया जा सकता है।

मुद्रा के इस्तेमाल से लेन-देन में कई फ़ायदे होते हैं। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए कि मेरे पास एक बढ़िया तरबूज़ है जिसके बदले में मुझे दो लीटर दूध चाहिए। मेरे दोस्त ज़फर को वह तरबूज़ चाहिए तो है मगर उसके पास बदले में देने के लिए दूध न होकर गेहूं है। मगर मुझे गेहूं नहीं चाहिए, मुझे तो दूध ही चाहिए। पास में रहने वाले सुरेश के पास दूध है मगर उसे मेरे तरबूज़ में कोई रुचि नहीं। उसे गेहूं चाहिए। हम तीनों फंसे पड़े हैं। पैसों के धीरे-धीरे बढ़ते प्रयोग से हमारी समस्याओं का हल मिल जाता है और हमारे उत्पाद अपनी गोद से आज़ाद हो जाते हैं। हम अपने गेहूं, तरबूज़ और दूध को एक साझे माध्यम, रुपये में बदलकर जो मर्जी ले सकते हैं। लेन-देन ज्यादा सरलता और आसानी से होना शुरू हो जाता है। सामाजिक घुलाव के चलते कई सारे संबंध और लेन-देन बंधनों और रूढ़ियों से निकल जाते हैं। इससे कई फ़ायदे होते हैं और शायद कुछ नुकसान भी।

जिन खेतिहर मज़दूरों का ज़िक्र शुरुआत में किया था, उनकी तो ज़िन्दगी ही बदल गई है। अब वे ज्यादातर काम के बदले में पैसे लेते हैं, फ़सल का हिस्सा नहीं। कई जगहों पर, मज़दूरी के बाज़ार (labour markets) उभर के आए हैं और मज़दूर अब अलग-अलग काम देने वालों से बात और भाव-ताव कर सकते हैं। उनके पास रोज़गार के विकल्प अब मौजूद हैं और मालिक और मज़दूर के बीच जो पारंपरिक संबंध थे अब कमज़ोर हो रहे हैं। वह संबंध अब महज वेतन देने के अनुबंध तक सीमित हो गया है और उससे बहुत आगे तक नहीं जाता है। जब यह मज़दूर अन्य जगहों पर रोज़गार ढूंढ़ता है तो उसके शिक्षित होने से बहुत फ़र्क पड़ जाता है। शिक्षा उन्हें ऐसे सांस्कृतिक मूल्य और तकनीकी कौशल देती है जिनकी नौकरी देने वालों में मांग हो सकती है। शिक्षा उन्हें नए रोज़गार के स्रोत ढूंढ़ने में मदद करती है और उन्हें काम में नए रिश्ते और संबंध बनाने में भी।

खेतिहर मज़दूर अक्सर अनुसूचित जातियों से होते हैं और मज़दूरी के बाज़ार के विकास से यह आम हो गया है कि वे गांव से शहर में पलायन करना पसंद करते हैं। इससे उन्हें अपनी पुरानी स्थिति से छुटकारा मिलता है जहां उन्हें किसानों के सामने छोटा होकर जीना और काम करना पड़ता था। जैसे कई बार सुनाई पड़ता है, लोग गांव में सर झुकाकर चलने की तुलना में शहर में रिक्शा खींचकर गुज़ारा करना पसंद करते हैं।

ग्राहक में तब्दील होना

मैं दस साल पहले मध्यप्रदेश के एक गांव के बड़े लड़कों और नौजवानों से बातें कर रहा था। वे अनुसूचित जाति के थे और हम उनके घरों के पास खड़े थे जो कि गांव के बाहरी क्षेत्र में थे। क्योंकि हम एक-दूसरे को दो-तीन साल से जानते थे, इसलिए हम अब वहां के सवर्ण लोग जिस शर्मनाक तरीके से उनसे व्यवहार करते थे उसके बारे में बात कर पा रहे थे। उन्होंने मुझे रौंगटे खड़े करने वाले किस्से सुनाए कि कैसे जब वे अपने सहपाठियों के घर जाते थे तो उन्हें घर के अन्दर नहीं बुलाया जाता था और चाय या पानी के लिए भी नहीं पूछा जाता था और अगर चाय दी भी जाती थी तो टूटे हुए प्याले में दी जाती थी। उनकी कहानियों से दुखी मेरी नज़र गांव से गुज़रने वाली सड़क पर गई। वहां हमारे सामने एक टैक्सी रुकी। इधर टैक्सी का मतलब था एक जीप जो कि गांव-गांव रुककर सवारियां लेती थी। इसमें अक्सर लोग एक-दूसरे के ऊपर ठूंस-ठूंसकर बैठे होते थे, 7 लोगों की जगह में 12 या 15 तक। हमारे सामने वाली टैक्सी ने दो और सवारियों को जैसे-तैसे अन्दर घुसाया और चल दी। मैंने उन नौजवानों से पूछा 'इन टैक्सियों में दिक्कत नहीं होती? लोग इनमें कैसे एक-दूसरे से चिपक कर बैठ जाते हैं?'।

वे मुस्कुरा दिए और उन्होंने कहा कि कुछ साल पहले जब टैक्सियां शुरू ही हुई थीं तो यहां हरिजन मुहल्ले में नहीं रुकती थीं। वहां गांव के बीच मंदिर के सामने ही रुकती थीं। मगर फिर टैक्सियों की संख्या बढ़ गई और उन्हें सीटों को भरने में दिक्कत आने लगी। तब उन्होंने यहां भी रुकना शुरू किया। अब फिर से टैक्सियां खचाखच भरी रहती हैं और अगर किसी को एक अनुसूचित जाति के व्यक्ति के अंदर आने पर एतराज होता है, तो ड्राइवर उसी से कह देता है कि अगर तुझे ज्यादा तकलीफ़ होती है तो तू ही उतर जा। मैंने जब अपने मित्र अरविन्द को यह कहानी सुनाई तो उसने हंसकर कहा, 'देखा, अब ड्राइवर के लिए वे सिर्फ सवारी रह गए थे और कुछ नहीं।'

बाज़ार का स्वरूप भी बदल रहा है, गांव और कस्बों के हाट और अनौपचारिक बाज़ारों से अब संगठित और नियमित बाज़ारों में, जो कि विस्तृत रूप से माल की जानकारी देते हैं और इस बात की गारंटी देते हैं कि आपको जिस चीज़ का वायदा किया गया है वही दी जा रही है। अनियमित बाज़ार में आपको बहुत एहतियात बरतनी पड़ती थी कि आप क्या ले रहे हो और किससे। दोनों ख़रीददार और व्यापारी की कोशिश होती थी कि किसी भी तरह से दूसरे का फायदा उठा लिया जाए। माल की जानकारी ठीक से उपलब्ध नहीं होती थी। लोग यह पसंद करते थे कि जाने-पहचाने व्यापारी से ही खरीदा जाए और दोस्तों और रिश्तेदारों के माध्यम से माल की गुणवत्ता को बनाए रखा जाए। इसकी तुलना में आजकल आप पाएंगे कि बाज़ारों को नियंत्रित किया जाता है। इंटरनेट पर बेचने वाली बड़ी वेबसाइट सामान की पूरी जानकारी देती हैं और अगर कुछ भी ऊंच-नीच होती है तो उसे फ़ौरन वापस ले लेते हैं। व्यापार और उत्पाद का मानकीकरण हो रहा है और उसके चलते हमारे काम करने के तरीकों और रिश्तों में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ रहा है।

शिक्षा और बाज़ारीकरण

इन सब चीज़ों का शिक्षा प्रणाली पर बड़ा गहरा असर हुआ है। एक-आध शताब्दी पहले तक स्कूल और कॉलेज की शिक्षा की ज्यादातर सांस्कृतिक भूमिका थी और उसका मज़दूरी के बाज़ार से बहुत ज्यादा संबंध नहीं था, उन थोड़े से लोगों को छोड़कर जिनके परिवार जमींदारों और राजाओं के लिए मुनीमगिरी करते थे। एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह आया है कि धीरे-धीरे ऐसे लोगों की संख्या बढ़ी है जो कि अपनी मज़दूरी को रोजगार कमाने के लिए बाज़ार में बेचते हैं। शिक्षा उनके लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। आज के समय में शिक्षा से यह उम्मीद रखी जाती है कि वह लोगों को मज़दूरी के बाज़ार के ज़रिए एक पद दिलाएगा। यह समाज का घुलाव (disembedding) है जो कि शिक्षा की भूमिका में मौलिक परिवर्तन ला रहा है। आज से 50-75 साल पहले शिक्षा का बहुत से लोगों के लिए मुख्य काम था एक उच्च संस्कृति सिखाना। उन्हें साहित्य पढ़ाया जाता था, धार्मिक ग्रन्थ पढ़ाए जाते थे और खगोल-ज्योतिष जैसे विषय सिखाए जाते थे, जिनसे यह उम्मीद होती थी कि उनकी सोच और व्यवहार में सुधार होगा। आज शिक्षा के उस नज़रिए को नौकरी दिलाने की चुनौती के साथ भी जूझना पड़ रहा है। अब एक ऐसी शिक्षा चाहिए जो धन, ओहदा और शक्ति भी दिलवाए। शिक्षा के इस बदलते हुए अर्थ के पीछे समाज का बदलता हुआ ढांचा है।

समाज के बाज़ारीकरण से जो परिवर्तन आ रहे हैं उनका असर बहुत दूर तक जाता है और कुछ मिला-जुला-सा ही है। बाज़ारीकरण और वस्तुकरण से हमारा तात्पर्य है माल और सेवाओं का एक ऐसे रूप में परिवर्तित होना जो कि बाज़ारों और पैसों के रास्ते से आदान-प्रदान किए जा सकें। बहुत सारे आदान-प्रदान यह रूप नहीं लेते हैं। उदाहरण के लिए, जिस तरह से एक परिवार अपने सदस्यों के लिए भोजन उपलब्ध कराता है और उसके सदस्य एक-दूसरे को प्रेम और दुलार देते हैं। लोग बहुत नाराज़ होंगे, अगर इन रिश्तों को पैसों में तोलना शुरू कर दें। वस्तुकरण का अर्थ है कि समाज में कई ऐसी चीजें बाज़ार में उतरती हैं जो कि पहले बाज़ार में नहीं थीं। कभी यह लोगों को ज्यादा आज़ादी देता है और कभी उन्हें ऐसी भी स्थिति में डाल देता है कि वे बाज़ार की प्रक्रियाओं पर मोहताज हो जाते हैं और अगर कोई समस्या हो तो किसी तरह के सांस्कृतिक सहारे से वंचित हो जाते हैं। इन सब परिवर्तनों का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ता है, इन बातों पर कि शालाओं में क्या पढ़ाया जाना चाहिए, शालाओं को किसकी मदद करनी चाहिए और आखिर शिक्षा का उद्देश्य क्या है।

बाज़ारों की एक ख़ासियत यह होती है कि वे उन लोगों को ज्यादा ताकत और बल देते हैं जिनके पास पैसा अधिक होता है। बाज़ार में एक मायने में लोग बाराबर हैं मगर दूसरे मायने में इस बात से लोगों में अन्तर आ जाता है कि कौन बाज़ार को ज्यादा प्रभावित कर सकता है। वस्तुकरण और बाज़ारीकरण के चलते जो शैक्षणिक सवाल उठते हैं उनमें से एक यह है कि ज्यादा पैसे वालों का शिक्षा पर किस तरह का अधिकार है। उदाहरण के लिए, शिक्षा को यह पूछना पड़ता है कि क्या वह उन लोगों की जरूरतों को पूरा करेगी जिनके पास ज्यादा धन है या उनका जिनके पास कम है। इन दोनों की शैक्षणिक ज़रूरतें काफ़ी अलग हो सकती हैं। जिस तरह का ज्ञान अमीर चाहते हैं, हो सकता है उसका ग़रीब के लिए कोई मायने नहीं है। दूसरी तरफ हो सकता है कि ग़रीब के लिए यह हानिकारक हो कि वे बातें आंख बंद करके मान लें जो कि अमीर उन्हें पढ़ाना चाहते हों और उन पर कोई विरोध या सवाल न करें। हम भारतीयों के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि हम अन्याय और दुराचार के खिलाफ़ आवाज़ उठाना सीखें और न्याय के लिए दबाव बनाना सीखें। यह सब ऐसी बातें हैं जो कि कई प्रभावशाली लोग नापसंद करेंगे। शिक्षा के बाज़ारीकरण से हमारे सामने इस तरह के कई सवाल खड़े हो जाते हैं।

वस्तुकरण के साथ एक और परिवर्तन यह हो रहा है कि शिक्षक एवं बच्चों और उनके माता-पिता के बीच के संबंध इस तरह के बन सकते हैं जैसे एक सेल्स के व्यक्ति और उसके ग्राहकों के बीच होते हैं। शाला एक व्यापारिक संस्था बन जाती है और शिक्षक उसमें सेवा करने वाले व्यक्ति जैसे कि इंश्योरेंस बेचने वाले व्यक्ति इंश्योरेंस कंपनी के होते हैं। शिक्षक और छात्र के बीच का रिश्ता बहुत अलग किस्म का हो जाता है। शिक्षक सिर्फ़ एक ऐसी सेवा दे रहा है जो कि मैनेजमेंट ने निर्धारित की हुई होती है। यहां शिक्षक का एक सोचने वाले व्यक्ति होने का कोई मतलब नहीं है, जो कि छात्रों की मदद करता है दुनिया को समझने या उसे एक रचनात्मक ढंग से देखने में। यह वह रिश्ता नहीं रहता जहां शिक्षक एक बुद्धिजीवी है और बच्चों के साथ पारस्परिकता के संबंध में ज्ञान की भेंट देता है। न ही शाला एक जगह है जहां धन एक व्यापक परिभाषा में धन का पुनर्वितरण होता है, अमीर से ग़रीब के हाथों में।

बाज़ार कई समस्याओं और संघर्षों का समाधान देते हैं और समाज में कई नए संघर्ष भी पैदा करते हैं। शिक्षा में बाज़ार के विस्तार से कई सवाल उठते हैं जिन पर बड़ी बारीकी से अध्ययन करने की ज़रूरत है। ◆

आगे पढ़िए

Polanyi, Karl. *The Great Transformation.* Boston: Beacon Press, 2001.

Geertz, Clifford. "*The Bazaar Economy: Information and Search in Peasant Marketing.*" In The Sociology of Economic Life, edited by Mark S. Granovetter and Richard Swedberg, 225–31. Boulder: Westview Press, 1992.

Wilk, Richard R. *Economies and Cultures: Foundations of Economic Anthropology*. Boulder: Westview Press, 1996.